प्राप्ति स्थान

१–श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति-रक्षक संघ
सैलाना मध्य-प्रदेश

२– " एवुन बिल्डिंग, पहली धोबी-तलाव लेन
बम्बई २

३– " सराफा बाजार जोधपुर राजस्थान

मूल्य १–००

प्रथमावृत्ति
२०००

वीर संवत् २५०६
विक्रम संवत् २०३७
चैत्र शु. १
१७–३–८०

मुद्रक—श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस सैलाना (म. प्र.)

प्रकाशकीय निवेदन

[illegible] [illegible] [illegible] [

विराजमान होने पर आपने 'मूर्तिपूजा' पर [illegible] हैं, उसी बीच इस पुस्तक की रचना हुई।

सामान्य श्रावक धर्म का पालन तो कोई भी और किसी भी वेश में स्थित बिना किसी बाधा के कर सकता है, चाहे वह गृहस्थ हो, संन्यासी हो या निर्धन, व्यापारी हो, या नौकरी करने वाला सामान्य किसान वर्ग का संचालक हो, सुखपूर्वक कर सकता है, शर्त केवल एक ही पहले धर्म में श्रद्धा—आस्था होना आवश्यक है। दृढ़ आस्था होने पर आगे के नियम यथाशक्ति पालन करने और अधिक पालन करने की भावना स्वयं से प्रगति होती रहती है।

सम्यग्दर्शन वर्ष ३० सन् १९७९ के प्रारंभ से यह पुस्तक लेखमाला के रूप में दिसंबर ८० तक प्रकाशित होती रही। इसकी उपयोगिता देखकर धर्मप्राण उदारमना श्रीमान् सेठ मिलापचन्दजी सा. बोहरा मंदसौर निवासी ने पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का अनुरोध किया और एक हजार पुस्तकें स्वयं लेने की भावना बताई। फलस्वरूप 'सामण्णमणुपस्सो' पुस्तक प्रकाशित की गई। आशा है यह पुस्तक समाज के लिये अतीव उपयोगी होगी।

सैलाना
चैत्र शु. १ सं. २०३७
१७-३-८०

—रतनलाल डोशी

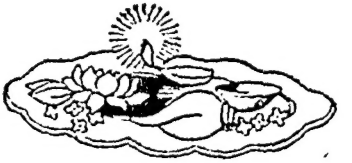

सामण्ण सड्ढि-धम्मो

(सामान्य श्रावक धर्म)

मंगलाचरण—

(अनुष्टुप)

नत्वाऽहं जिनदेवेभ्यः, सिद्धेभ्यः गुरु-सन्निधौ ।
दिग्व्रत-प्रमुखं वक्ष्ये, श्रमणोपासक-सुव्रतं ॥१॥

—मस्तक दोनों के सन्निधि, देवों के द्वारा पूजित, दिग्व्रत-प्रमुखी के धारणी, श्रमणोपासक सुव्रत को कहूँ आगे और सद्-पुरुष आनंदे वाले जिन देवेन्द्र को मैं नमस्कार करके ।

दिग्व्रत—'दिशोध' यह से (१) ऊर्ध्वदिशाओं का परिमाण, 'अधः परिमाण' यह से (२) अधोदिशाओं का परिमाण, और 'तिर्यक्' यह से (३) तिर्यक्दिशाओं का परिमाण किया गया है।

संक्षिप्तं गुरु-पादैः च, वक्ष्यामि गुरुतः श्रावकं ।
सामण्य-सड्ढि-धम्मं जे, कुर्वतो पावई जए ॥२॥

—संक्षिप्तकर देवों और गुरुदेव के चरणों से कहा हुआ करूं मैं, श्रमण भाव को सरल करने वाले, सामान्य श्रावक के धर्म को कहूंगा हूँ, जिसको आचरण करने वाले पुरुष इस जगत में सुख को प्राप्त करता है।

सामान्य श्रावक की परिभाषा

जिणधम्माणुरागी वा, जाओ कुलंसि तंसि वा ।
सत्त-वसण-चाई वा, सो हि सामण्ण-सावगो ॥३॥

—जो जिनधर्म का अनुरागी हो अथवा जो जिनधर्म के अनुरागी कुल में जन्मा हो अथवा जो सप्त-व्यसनों में से भी या कई व्यसनों का त्यागी हो, वह सामान्य श्रावक है ।

टिप्पण—इस गाथा में श्रावक की परिभाषा के तीन विकल्प बतलाये हैं—

१ साधु-सन्त, श्रावक आदि के सत्संग से जो जिनधर्म का अनुरागी बना हो, जिसकी चर्या किंचित् शुद्ध हुई हो और जो नमोक्कार मंत्र का स्मरण करता हो, वह सामान्य श्रावक है ।

२ जो जैनधर्म के अनुयायी कुल में जन्म लेने के कारण मद्य-मांस का त्यागी है और साधुओं की उपासना करता है, वह सामान्य श्रावक है ।

३ जिसने साधु आदि के उपदेश को सुन कर, सातों कुव्यसनों (शिकार, द्यूत, मद्य, मांस, परस्त्री-गमन, वेश्या-गमन और चोरी) या कई कुव्यसनों का त्याग कर दिया है और जिनधर्म पर श्रद्धा रखता है, वह सामान्य श्रावक है ।

सामान्य श्रावक के करणीय नियम

(काव्य)

मिच्छत्त-चाओ जिणधम्म-इच्छा, देवत्थुई वंदणयं गुरुस्स
मणोरहा धम्मुवदाण-सुद्धं, पहावणा संघ-सुहायरो य ।४।

(अनुष्टुप्)

साहम्मियस्स उद्धारो, काउस्सग्गो सुयस्सई ।
णमुक्कार-सहियं च, दिवस-चरिमं सया ।५।

आवश्यकं सकालंमि, विरयाए तियमं मुहं ।
इमाहं कालिआइं, सट्ठीहिं भविएहिं च ।६।

१ मिथ्यात्व का त्याग, २ विरति की प्राप्ति, ३ देवअनुज्ञा, ४ मुख की प्रसन्नता, ५ सर्वोपचय का ज्ञान, ६ पर्व-आराधना, ७ संघ का सत्कार, ८ सार्वजनिक उपकार, ९ धर्मोपदेश, १० मुखशुद्धि = नाम की आराधना, ११ 'अनुकरणादिह'=अवश्यकरण, १२ दिवस-अतिक्रमकालत्व, १३ प्रथमकरण=आवश्यक और १४ शेषता के हेतु मुख जिनका । ये चौदह जिस दृष्टान्त प्रकरण की व्याख्या की ये ही बोल है ।

मिच्छाभावो गमागम, संपत्ति हिय-कारओ ।
सासत्त सहिट्ठ-धम्मोत्ति, आलोइं गुणागरो ।७।

अर्थ पहले मिथ्यात्व का गमागम आगम-शास्त्र संपत्ति का (हितकारी सम्पत्ति से युक्त शब्द का) विशेषण, सत्य का हित, कर्ता और आत्म-शुद्धि का कहा गया है ।

प्रथम बोल

(मिथ्यात्व-त्याग)

मिथ्यात्व की परिभाषा

मिच्छत्तं तु जाणाहि, जणाइ अत्तबुद्धिइं ।
अदेविम्मि देवबुद्धी अ, मिच्छत्तं ति विवज्जिइं ।८।

अजीव पर जीव की श्रद्धा करना, अदेव में देवबुद्धि, अगुरु में गुरुबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि का विपरीत श्रद्धान मिथ्यात्व है—ऐसा जानकर उसका त्याग करना चाहिये ।

विवेचन—इस गाथा में मिथ्यात्व के तीन भेद बताये हैं—

१ तत्त्वों में अविश्वास २ तत्त्वों में अतत्त्व रूप प्रतीति । ३ अतत्त्वों में श्रद्धा और ४ अतत्त्वों में तत्त्व रूप प्रतीति ।

दूसरी रीति से इस गाथा में मिथ्यात्व के तीन रूप बताये हैं—१ तत्त्व रूप श्रद्धा के अभाव में तत्त्व का अनिर्णय, २ श्रद्धा होने पर भी तत्त्व के निर्णय के अभाव में अतत्त्व के प्रति रुझान और ३ श्रद्धा के द्वारा तत्त्व-निर्णय के नाम पर विपरीत-प्रतीति । अर्थात् तत्त्व का अनिर्णय, अतत्त्व-प्रीति और विपरीत निर्णय मिथ्यात्व है ।

मिथ्यात्व के भेद

(काव्य)

दुक्खस्स पुण्णे भव-वारि-मज्झे,
जेणं णिबुड्डा सययं हि जीवा ।
सो सज्झओ साहणओ य मिस्सो,
मिच्छत्तभावो तिविहो पउत्तो ॥९॥

जिससे दुःख रूपी जल से परिपूर्ण भव-सागर में जीव सदा से डूबे हुए हैं, वह मिथ्यात्व भाव साध्य, साधन और तदुभय माध्यम से तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है । अर्थात् मिथ्यात्व के तीन भेद हैं—साध्यगत, साधनगत और तदुभयगत ।

टिप्पण—पद्य की सार बातें—१ संसार दुःख रूप है और दुःखानुभव का प्रधान हेतु मिथ्यात्व है । २ भव-परम्परा का कारण मिथ्यात्व है । ३ साध्य आदि को नहीं समझना मिथ्यात्व है ।

आगमगत मिथ्यात्व

अयथातथ्य अज्ञान-विभाग-मूढ़ता,
अनाभोग विपक्ष-विलया तहा।
कुलिंगत्थो लिपक्खत्था गहेइ णो,
सिपक्खत्थं सम्मगयं णवेइदुवं ॥१८॥

अर्थ के विषय में अज्ञान-विभाग-मूढ़ता, अनाभोग, विपक्ष-हीनता, कुलिंगस्थता और सत्य की अविपक्षता—आगम-गत मिथ्यात्व बताये गये हैं।

विपक्ष-अस्तित्व विभाग शब्दों द्वारा लिये गये हैं। ये दोनों शब्द दो विरुद्ध में स्थान विभाग। इस विभाग के इस पक्ष में पांच भेद बताये गये हैं। यथा—

१ अयथातथ्य-विभाग मूढ़ता—अनाभोगादि के विशेष से अर्थात् अनाभोग आदि के विषय का यथार्थ ज्ञान न होना।

२ अनाभोग—अनाभोग के विशेष से अर्थात् विपक्ष हीन पक्ष का ज्ञान न होना।

३ विपक्षसहीनता—अनाभोग के कारणों से अपने पक्ष को 'केवल यही सत्य है'—ऐसा ही निर्णय नहीं करना।

४ कुलिंगत्थ—अनाभोग आदि से अपना ही पक्ष सत्य है—ऐसा निर्णय करना।

५ सपक्षि की अविपक्षता—अपने ही पक्ष में सत्य, अविपक्षी, पक्ष-रहित अर्थात् अपने ही पक्ष को निर्णय कर अपने पक्ष को छोड़ दूसरे पक्ष को नहीं करना अर्थात् दूसरे पक्ष का अस्तित्व ही नहीं मानना।

साधनगत मिथ्यात्व

(अनुष्टुप)

अत्तगयं परगयं, साहणं दुविहं मयं ।
अत्तगयं तु सब्भावा, देवो गुरु त्ति गेयरं ॥११॥

—साधन दो प्रकार के माने गये हैं आत्मगत और परगत। अपने उत्तम भाव (सम्यग्दर्शन आदि) आत्मगत साधन हैं और देव गुरु और धर्म परगत साधन हैं।

टिप्पण—आत्मा ही सिद्धि में परिणत होता है। इसलिये आत्मा में गुणों का आविर्भाव आत्मगत कारण है और गुणों के आविर्भाव में सहायक अरिहन्त देव आदि परगत साधन हैं। इन्हें क्रमशः उपादान और निमित्त कारण कहा जा सकता है। गाथा में 'च' शब्द के द्वारा धर्म को भी ग्रहण कर लिया गया है।

भावबुद्धी ण सब्भावे, दुब्भावे खलु सा भवे ।
ऊणा य अइरित्ता उ, साहणत्तेऽतहा मई ॥१२॥

उत्तम भावों = सम्यग्दर्शन, क्षमा, अहिंसा आदि में सद्भाव बुद्धि न हो—दुर्भाव बुद्धि हो, दुर्भाव मिथ्यात्व, क्रोध, हिंसा आदि में सद्भाव बुद्धि हो और उनकी साधनता—अगाधनता में जिनोक्त भावों से कम या ज्यादा बुद्धि हो, तो वह साधनगत मिथ्यात्व है। अर्थात् साधनगत मिथ्यात्व के १ साधन-विपर्यय, २ न्यून-साधन-प्रतीति और ३ अधिक साधन प्रतीति-ये तीन रूप हैं।

तत्तभमं तु मिच्छत्तं परगयं तिभेयगं ।
लोउत्तरिय-लोइय-कुप्पावयणियं चए ॥१३॥

हे परम आत्मन् ! वेदादि शास्त्र के प्रवक्ता, लौकी-पारिक, लौकिक और कुलाचारादिक भेद तीन भेद वाले उपनयन निरूपण की दीक्षा ।

निरूपण-दृष्ट शास्त्रों में निरूपितप्रकार, प्रवक्तृत्वी निरूपण के तीन भेद बतलाये गये हैं । प्रत्येक भेद के भी तीन-तीन भेद होते हैं । लौकीपार वेदादि अर्थात्, निर्दोष पुरुष और वैदादि-प्रकाश वाले के विषय में आदि को आलोचना निरूपण करते हैं । जैसे मनुस्मृति निरूपण के प्रवक्ता मनु होने पर भी 'मनुनिरूपकी दीक्षा करो' 'मनुस्मृतिकी दीक्षा दो' आदि । कुलाचार प्रवक्ता की अपेक्षा से दो लौकपारवाले होते हैं । किन्तु उनके प्रवक्तापन आदि में लौकिक की कल्पना करना आदि । वाले की प्रवक्ता लौकिकादि प्रवक्ता आदि की उत्कृष्टता है होते पर भी, वहाँ वहाँ तीन भाग के हैं, इसके एक एक प्रवक्तृ हैं' इस रूप से आलोचक कहते हैं, इसके एक एक प्रवक्तृ हैं' आदि व्यवस्था का व्यवहार है वहाँ के प्रवक्ता को व्यवस्था आदि लौकीपार निरूपण है । इसी प्रकार लौकिक और कुलाचारिक वेदादि को आलोचक—कुल व्यवस्था लौकिक और कुलाचारिक निरूपण है ।

उपनयन निरूपण

(प्रश्न)

अंगे हि सर्वा निरूपणाङ्गम्,
मुख्यं च सर्वा मनुमाङ्गल्यम् ।
दृष्टिं निरूपं कुलवृद्धं तु कुलम्,
आचार्यकं पीक्ष कुल हि निरूपं ॥ १ ॥

लौकिक के व्यवहार वेदव्यवहार का निरूपित प्रवक्तृत्व कुल व्यवस्था व्यवस्था प्रवक्तृत्व कुलाचारिक व्यवहार लौकिक और कुल के प्रवक्तृत्व

(दुर्गति-दुर्गति और कुदेवादि) [illegible] साधन [illegible] साध्य, उस प्रकार जो [illegible] है, वह उपनय [illegible] है।

टिप्पण—इस पद्य में मिथ्यात्व के [illegible] बताये गये हैं- १ मनुष्यों में सांशयिक साध्य, २ मूढ़ तपस्वी में सांशयिक साध्य, ३ दुर्गतियों में शिव साध्य और ४ अमूढ़ तपस्वी में शिव साध्य। प्रत्येक के साधना (हेतु) और आराधना इन दोनों को जोड़ें।

मिथ्यात्व का त्याग

सपंजलीहिं विणएण जुत्तो,
समुट्ठिओ णं गुरु-पाय-मूले।
मिच्छत्तभावस्स करेज्ज चायं,
संतो कयण्णो य तिजोगसुद्धो ॥१५॥

शांत कृतज्ञ और तीनों योगों से शुद्ध बन कर, विनय सहित हाथ जोड़ कर और गुरुदेव के चरणों में खड़ा रह कर मिथ्यात्व भाव का त्याग करे।

टिप्पण—इस पद्य में मिथ्यात्व के त्याग की प्रतिज्ञा लेने की विधि बतलाई गई है। यथा—१ अहंकार का त्याग करके गुरुदेव के समीप जाना २ दोनों हाथ जोड़ना और उन्हें मस्तक से लगाना, ३ मस्तक झुकाना, ४ मनःशुद्धि—गुरुदेव और प्रतिज्ञा के प्रति बहुमान रखना, ५ कायशुद्धि—अन्य क्रियाओं को छोड़ कर पंचांग झुका कर वंदना करना, फिर ६ विनय सहित गुरुदेव के चरण कमलों में खड़े रहना, ७ वचनशुद्धि—गुरुदेव से प्रतिज्ञा की याचना करना, ८ मिथ्यात्व का त्याग करना अर्थात् प्रतिज्ञा के वचनों का उच्चारण करना, ९ प्रतिज्ञा के बाद गुरुदेव के प्रति कृत

[illegible] (दो हाथ दो घुटने और मस्तक) भूमि पर [illegible] ३० सीधे होना अर्थात् पूरा खड़ा होकर [illegible] [illegible] [illegible]

बार-बार हर्ष धारण करे और जन्म को कृतार्थ और सफल मानें।

विवेचन—इस पद में मिथ्यात्व के त्याग में अपवित्रता के लिये तरसीस कुल क्रियाएँ बतलाई गई हैं। यथा—१ सद्गुरुओं के अभाव में मिथ्यात्व के द्वारा होने वाली दोष-परम्परा की और मिथ्यात्व के बुरे फलों की जानकारी करना, २ बार-बार उनका चिन्तन करना, ३ मिथ्यात्व-त्याग के संकल्प को दूषित करने वाले अतिचारों का पुनः-पुनः चिन्तन करते हुए उनसे बचना, ४ संकल्प-शुद्धि की भावना करना, ५ 'मैंने मिथ्यात्व का त्याग कर लिया है'—यह सोच कर प्रसन्न होना और ६ बार-बार हर्ष को धारण करना तथा ७ 'मिथ्यात्व का त्याग कर लेने के कारण मेरा जन्म कृतार्थ हो गया—सफल हो गया'—यह बार-बार सोचते रहना।

द्वितीय बोल

(जिनधर्म-प्रीति)

किसका शरण है ?

(अनुष्टुप्)

विविहा धम्मऽहिप्पाया, विरुद्धा वि परोप्परा।
णियम्मि वि विरुद्धा ते, कस्स मे सरणं जगे ॥१८॥

(मुमुक्षु जीव पुकार करता है—) जगत् में धर्म के विषय में भाँति-भाँति के अभिप्राय हैं। वे परस्पर विरुद्ध भी हैं अरे! वे अपने-आपमें भी विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति में मुझे किसका शरण है ?

धन्य है वह

जिणिंद-धम्मो हि जगे अवीओ,
सच्चेव सच्चो स हि मोक्खमग्गो।

को दुतिनो अस्सिद्ध मोक्खमग्गो,
तस्सी तनो सं सरणं गतस्सो ॥१५॥

[illegible] [illegible] [illegible] [

श्रद्धा के हेतु

वत्तू अणंता णि ण तो विरोधा,
दोसा कसाया ण हि किंचि तेसु ।
वाया तउत्ते सरिया व जंति,
कम्हा ण सद्धं पकरेज्जिमस्स ॥२१॥

(मुमुक्षु की समाधान प्राप्त होता है—) उस निर्ग्रंथ-प्रवचन के अनन्त वक्ता होने पर भी इसमें परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है। क्योंकि उन वक्ताओं में हिंसादि दोष और कषाय रूपी कालिमा किंचित् मात्र भी नहीं है और उन महापुरुषों के प्रवचन रूपी सागर में सभी वाद नदियों के समान मिल जाते हैं। फिर किस कारण से इस निर्ग्रंथ-प्रवचन की श्रद्धा नहीं करते हो ?

अपनी भी बुद्धि है

अम्हे हु सच्चत्ति कहेन्ति सव्वे,
सच्चं परं किं ण ममाण बुद्धी ।
वरं कहेंतस्स सअस्स वत्थुं,
कीणिज्ज को तं वय पूइगंधं ॥२२॥

'हम ही सच्चे हैं'—सभी यही कहते हैं—यह सत्य है। किन्तु हमारी बुद्धि नहीं है क्या ? अपनी वस्तु को अच्छी बतलाने वाले की उस सड़ी हुई और दुर्गन्ध से युक्त वस्तु को, कहो, कौन खरीदेगा ?

आत्मा ही कर्मफलों है

यदं यदोऽत्मा त्रिभागे कि तुष्यं,
यदं त्व तं यत्नलभि अ-त्यमागं ।
यात्मत्व आत्मार्थ यत्व तुलत्व का,
यदोऽत्व तत्वा यत्वयो कि एवमें ॥२३॥

अर्थात् है कि तुम एवमों कर्मफलों पर भी करते हैं और यत्वता है कि तुम प्रकाश में तुलत्व यत्व को यही यत्वते हो। परन्तु तुमको कि (यहाँ है त्रिभाग है) आत्मा ही आत्मा कि यह यत्व यदोऽत्वी यत्वती है ? इसलिए एवमें को तुम आत्म-यत्वोंगे यत्व ही करो। यत्व भी करो (ये इसका अर्थ है)।

त्रिभाग-त्रिभाग प्रकाश का अर्थ है त्रिभाग होना है यह यत्व में ही है। यत्व में यत्व यत्व है। त्रिभाग को त्रिभाग त्रिभाग त्रिभाग ही आत्मा यही है। यत्व कर्म में को भी त्रिभाग होने से, के द्वारा भी प्रकाश होने है। परन्तु त्रिभाग को के आत्मा प्रकाश होने पर भी इसमें आत्मा को आत्म के कर्म यही होना है। १. त्रिभाग को के आत्मा आत्म = आत्मनिष्ठ (त्रिभाग) प्रकाश है और २ प्रकाश के आत्म प्रकाश त्रिभाग के तुल्य आत्मा में यत्व यत्व करते हैं।

२) के यत्व में एवमें को आत्मा 'आत्मा' कहता है। आत्मा आत्मा के आत्मा आत्मा प्रकाश होने के आत्म-यत्व होने से आत्मा को आत्म, इस आत्मा का त्रिभाग प्रकाश के त्रिभाग होने पर भी प्रकाश होने से।

यदा आत्मा यात्मा है

आत्मेव त्रिभा यत्व-प्रकाशतो,
यात्मत्व आत्मा यात्मा-यात्म-होती।

भत्ति सद्धं तम्मि हु पवयणे च,
तिव्वं करेज्जा किर एस कज्जो ॥२४॥

—निश्चय ही जिनकी सेवा भव-दुख को मिटाने वाली है, सुरक्षा करने वाली है और पाप रूपी चोर को हरने वाली है, उसी निर्ग्रंथ-प्रवचन में ही तीव्र रूप से भक्ति (श्रद्धा) रुचि और प्रतीति करो और निश्चय ही यही करना योग्य है।

विवेचन—अहेतुगम्य भावों की श्रद्धा, सर्वज्ञोक्त क्रियानुष्ठान की रुचि और तर्क-साध्य भावों की प्रतीति करना योग्य है।

श्रद्धा-पोषिका भावना का अभ्यास

(अनुष्टुप्)

सव्वाणुट्ठाण-मूलं हु, इमं कुज्जा सुभावणं।
'सच्चं तमेव नीसंकं, जं जिणेहि पवेइयं' ॥२५॥

सभी धर्म-अनुष्ठानों की मूल रूप निम्नलिखित इस उत्तम भावना का सदा अभ्यास करो—'वही सत्य है—शंका से रहित है, जो राग-द्वेष से रहित आत्माओं ने कहा है।'

धर्म-प्रीति सदा रहे

(आर्या)

जिणणाह-धम्म-पीई, समत्त-सुह-इड्ढि-दाइणी सुद्धा।
वासं करेज्ज णिच्चं, माणस-कमलंमि लच्छिव्व ॥२६॥

(मुमुक्षु आत्मा भावना करता है—उपर्युक्त भावना के अभ्यास आदि से) हृदय-कमल में, लक्ष्मी के समान समस्त सुख और ऋद्धि को प्रदान करने वाली जिनेन्द्र देव के धर्म की

मुक्ति वधू को संगम करो ।

जिन-मुख-पद्म-विकासं, नर-भव-संक्लेश-दोहिवं तमिस्र ।
रागादि मिन्न-रसा, सन्मा वन्मा सदुरुमा ते ॥२७॥

(अनुवाद) भव्यात्मा (विशेष वेशों के द्वारा वर्णित धर्म में तीन सर्वश्रेष्ठ संगीत और बुद्धि को देने वाला है। अब जिसकी दृष्टि की किरण सब एक सर्वश्रेष्ठ से रंग गई है, वे सद्गुरु सार-सार सत्यवाद के दाता हैं।

सुमति चौपई
(इकतीसी)
(वर्णिनी)

जिनवर-मुखविनोद, भव-क्लिष्ट-तमनाशी,
अवर रागादि वा, छेदिनी जो वमाद् ।
सदा ते-वन्मा सार, संगमोत्कार-भाव,
ये सुगुरु सुखदायी, संतसंगे जिवे सो ।२८।

जो सद्गुरु (भव्य वर्णित के द्वारा सही सुख प्रकाश के विनाश-दुखदायक के सुख प्रकाश करती निन्दा को छोड़ना है और सही, सच्चाई के अन्दर होकर, जैसा कोई के द्वारा कम होता करो, वास्तव में यह सत्य प्रकाश है, वह सही दयालु का घर और सुनो कह प्रकाश दायक है।

(छन्द)

सारासार-वैभवे, सदा वैभव-सुखदो,
विश्वोद्धार-कारणे, सर्वोत्कृष्ट-दातारो ।

तिकाल-संझा-सरणिज्जओ तं,
पच्चूस-कालंमि झरे अवस्सं ॥२९॥

देवों के पूज्य, तीन लोक के नाथ अरिहन्त भगवान् निश्चय ही आराध्य देव हैं। वे तीनों सन्ध्याओं में स्मरण करने योग्य हैं। प्रभात काल में उनका स्मरण अवश्य करना चाहिये।

(अनुष्टुप्)

स-हिअयंमि कुव्वेज्जा, जिण-णाहस्स अच्चणं
पइदिणं हि तिवखुत्तो, असक्के चेअ वा सइं ।३०।

अपने हृदय में जिननाथ की अर्चना प्रतिदिन तीन बार करे। यदि यह अशक्य हो तो एक बार अवश्य करे अर्थात् जिनेन्द्र देव का स्मरण त्रिकाल न हो सके तो एक बार तो करना ही चाहिये।

स्तव और पूजा

दव्व-भावाण भेएण, आहिओ दुविहो थवो।
होइ पूया वि सो चेव, सहरिसो करेज्ज तं ।३१।

–द्रव्य और भाव के भेद से स्तव दो प्रकार का कहा गया है और वही पूजा है। इसलिये सहर्ष स्तव (पूजा) करना चाहिये।

टिप्पण–द्रव्य-स्तव और भाव-स्तव–इन प्रत्येक के दो-दो अर्थ होते हैं। द्रव्यस्तव–आराध्य के द्रव्य = शरीर, अतिशय, यश आदि की प्रशंसा या आराध्य की द्रव्य = वचन आदि के द्वारा स्तुति। भावस्तव–आराध्य के भाव = ज्ञानादि गुणों की स्तुति या आराध्य की भाव के द्वारा स्तुति। यहाँ दूसरा अर्थ ग्राह्य है।

मुक्तक-काव्य

(क)

वयं तिष्ठामो यत्र सततं सार्द्ध !
बालत्व को वंदत्व मत्वाणो ।
मासाद्द पौत्र दद्दत्व पद्धरत,
पुणो दुणो दत्वमोसि मुद्धो ॥८॥

हे साथ ! जो यहां तिष्ठा से मुक्त हमें पुत्र करने के सारत्व के द्वारा वंदना करना है और बालक से पुत्र का पोत्र होना है, किन्तु मूर्खताओं के द्वारा मुक्त हुआ नहीं करता है।

विशेष-काव्य विषय के विषय बालक और बालक से पुत्र के संबंध मुक्त हुआ है। इसमें कवि की अपने बाल्य अवस्था के मुक्त देखभाल की मुक्त हुआ है।

भाव-काव्य

सत्यारणं सार्द्धिम जो सत्यारणं, मुक्तं मुक्तणो सारए पद्धरो।
पुत्रणाविनो पुत्र-पालरत्वरत, सो बालत्वं मुक्तं पुर्णेह ॥९॥

जो सत्य का सार है, मुक्तात्मा होने पर मुक्त करता, बालक और पुत्रत्व से हो कर मुक्त के बालक के पालन में मुक्त है, वह मुक्त में बालत्व धारण करता है।

मुक्त-मुक्ता वर्ग

(क)

मुक्तं कोऽहं मुक्तः, मुक्तमुक्तः का दिशे।
मुक्तोऽहं मुक्तिं कोऽहं, मुक्तमुक्तं कं मुक्तः ॥१०॥

आत्मादि का तीव्रतम उपयोग करके यदि किसी भी स्थान में अथवा अकेला (नमोत्थुणं के पाठ) से या अन्य संस्कृत, हिंदी आदि भाषाओं के स्तोत्र-स्तुतियों से परिपूर्ण चित्त उपयोग पूर्वक या सूर्योदय से पहले जिनपूजा करें।

नियत-विधान

अहवुग्गयसूरंमि, कुज्जा सिद्धाण-संथवं ।
सूरत्थमण कालंमि, तित्थेस-चुद्द-मंगलं ॥३५॥

अथवा सूर्योदय के समय सिद्ध भगवंतों की स्तुति करें और सूर्यास्त के समय चौबीस तीर्थंकर भगवंतों का स्तुति-मंगल करें।

(टिप्पण—प्रातःकाल में 'नमोत्थुणं' का पाठ और सायंकाल में 'लोगस्स' का पाठ स्मरण करें।

चतुर्थ बोल

(गुरु-वंदना)

गुरु का महान् उपकार

(काव्य)

महोवयारो हि सम्मत्त-दाइणो,
जिणिंद-धम्मंमि सक्कज्ज-कारिणो ।
अणं महं तस्स अम्हाण सीसए,
नमिज्ज तं देवयं चेइयं गुरुं ॥३६॥

हमें सम्यक्त्व प्रदान करने वाले और जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट धर्म में उत्तम धर्म-क्रियाएँ—व्रतादि करवाने वाले गुरु का हम पर महान् उपकार है। उनका हमारे

जिस घर वहाँ चलना है। अतः मुझे उस देवलोकवास और मोक्षरूप
स्थानको ही श्रेष्ठतम स्थानके रूपमें वरण करना है।

मृत्यु-प्रसंग-वेदना

(अनुष्टुप्)

विप्रत्यक्षाणि सर्वाणि, मुक्तानि पतनोन्मुख मैं।
सोऽहं कथं-नयंतेन, अंतरेण न खेद्यते ॥२७॥

मृत्यु देखे के पहले अपने विद्यमान हुए सब पदार्थ
मुझसे पीछे छूटनेवाले हैं ऐसा विचार करके मुझको खेद करना नहीं चाहिए।

[illegible] है [illegible] [illegible] [illegible]

एवं विहिए जागिरया, संपत्ताए गुरुणए हि ।३९।

-जब गुरु सामायिक में आए, तब उनके चरणों का स्पर्श तथा पूर्वोक्त वन्दन करे। इस प्रकार गुरु-वन्दना की विधि को अवश्य समझना चाहिये।

ग्रामस्थित गुरुणी को वन्दना

साहू वा साहुणीओ वा, भूमीतं स-पुरं जया ।
वंदिज्जा ते तयाऽवस्सं, सद्धिं गुरुणए सया ।४०।

कोई साधु या साध्वियाँ जब अपने पुर को शोभित कर रही हों, तब उन गुरुणियों को सदा जबतक वे विराजें तबतक प्रतिदिन एक बार भी वन्दना अवश्य करें अर्थात् उनके दर्शन करें।

पंचम बोल

(मनोरथ-चिन्तन)

(काव्य)

लोयंसि अस्सि तु अणंत-भावा,
तम्हा अणंता य मणोरहा वि ।
तत्तो विमोक्खाय करेज्ज सुद्धे,
तित्थेस-वुत्ते ति-मणोरहे हु ।।४१।।

इस लोक में अनन्त पदार्थ हैं। इस कारण जीव के मनोरथों का भी कोई अन्त नहीं है। उन विकल्पों के जाल से छूटने के लिये, भगवान् तीर्थंकर प्रभु के द्वारा कथित शुद्ध तीन मनोरथों का अवश्य सेवन करो।

(अनुष्टुप्)

य-नरिगल-पार्श्व तु, अक्षागारत-मादर्श ।
यमेनुमाहिलाक्षोभि, साधवास मनोहरा ॥४८॥

इस प्रकार पाँचवाँ भाग, जो मनुष्य की आत्मा का और जो शरीरधारी आत्मा का विश्लेषण करता है, के पहला भाग समाप्त हुआ।

पहला मनोरथ

(आर्या)

यानिमहालिय-चोरिय-मेहुन-पाणाय वत्थ-दोसाय च ।
आरंभ-कारणे खलु, चरित्तहो सोहु-अत्थाणो ॥४९॥

चोरियां, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुनकर्म और अन्य दोषों के आरंभ का कारण है। इसलिए चरित्रवान मनुष्य का यह है। क्योंकि यह कारण ऐसे लक्षणों से पहचाने का प्रयास है।

(अनुष्टुप्)

यत्तवाणो परिणामा, मैथ्य चिंता न जेहिसं ।
चिंतवाणे हुवा [illegible] ॥५०॥

परिवेदन के बाद भी [illegible] चिंतन हुए [illegible]

[illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [

अवाहिणो न लिप्पति, वहुसुद्धं पि वुद्ध ! सं ।
स वुद्धिसत्तु सो भिक्खु, अपाणि व सुसिरसत्त ॥५८॥

हे संघ के वृद्धे को वुद्ध से ने ! अब वि विशाल
वुद्ध का अध्ययन कर जाने पर भी, वह अपने वुद्धत्व-गर्व से
और अन्य को नीच समझ वैठे ;

तं वुद्धिसत्तं भिक्खं च, सर्व साधुमिव मुनं ।
तमाहिंसं कवेरज्जा, अपं सत्तपुत्तं सत्तसु पुत्तं ॥५९॥

हे चैत्य ! ऐसे, अब और साधारण कुल के भी आदर
किए जाने के योग्य भिक्षु को विशेष मुनि का सा आदर करे ।

(कलश)

अंतेहु सारं च वहुं लहेहु, थोवं सारं च थोवं सारं ।
सारंहु सारं च सारोहु लेहु, सारंहु सारं च सारं लहेहु ॥

हे जो अल्प-विशाल-सार ! अंतिम वेला में अल्प सार
वाला है और अल्प सार वाला है, सार-सार है और सार-सार
है, सार को सार ही लेना चाहिए, सार को सार ही ग्रहण करना
चाहिए ।

रहता है, उसे काल का भय कैसे हो सकता है ?'

निप्पिऊण तहाभावं, न खणंपि पमायए ।
आराहणाइ उज्जुत्तो, संलेहणं वरं करे ।६७।

इस प्रकार सात्त्विक भाव का निर्माण करके क्षण मात्र भी प्रमाद न करे । अन्तिम आराधना में तत्पर होकर श्रेष्ठ संलेखना करे (अर्थात् अन्तिम आराधना की दिव्य भावना करे)

(काव्य)

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

वर्णन। आराधना-पीठिका कर्त्ता और पुत्र दोनों तथा भाष्यकार मिलकर आठ का मंगल चार का वरण करेंगे ?

आमा आलोचना सिद्ध-आमणा काय-संजमो।
सिद्धाणं च णमोक्कारो, गुरुस्स वंदणा-णई ।७०।

पवयण आलोचना जीव-आमणा,
पाणाइ पाओ य आहार-उवमणा।
सरणाण सेज्जा दुक्कडाण णिंदणा,
आराहणाए य गुणाणुमोयणा ।७१।

अणुपेहा अणुक्कारो, सिद्धाणाणोत्ति णोमरं,
आराहणं करिस्सामि, पवयण अरिसे इमं ।७२।

अन्तिम गाथा की संस्कृत-आराधकार्थ इस प्रकार है—१ आमा-आत्मना = मुझ का आत्मादिक से अन्तिम आराधना की करूंगा किया, २ आलोचना = कर्मों में लगे हुए दोषों की आलोचना करना, ३ काय-संजम = कायिकी ६ प्रकृतिक संयम के आराधना करना, ४ काय-संजम = कायिकी ६ प्रकृतिक संयम का आराधना करना, ५ सिद्ध-णमोक्कारो = सिद्धाणं णमो (सिद्धों को नमस्कार), ६ गुरु-वंदणाई = गुरुस्स वंदणा-णमोक्कारो और मेरी गुरुवन्दना करूंगी ही तो गुरु-वंदणा पूर्वक नमस्कार, ७ दुक्कडाणं णिंदणा करूंगा ही तो कृत-दुष्कृतों का पुनरुच्चारण, ८ सभी जीवों से क्षमा याचना, ९ अनुमोदना करूंगा ही तो अनुमोदना का स्मरण, १० अन्त समय में आराधना करूंगा, ११ पुनः पुनः-बार बार इसी की भी कर पुनः पुनः करूंगा, बार बार

तूंही तिरकुटमाथै, आसण-मारणे तिसो ।
आपणीसो सभी मोरथ, कथा कथनकहीतरी ॥२८॥

मैं इस प्रकार त्रिकुट पर्वत, जहां ब्रह्मादिकोंका भी त्रिकुट, सभी करते और सभी करते और सभी को अन्तकाल में यहीं पहुंचना है।

अहोनिसि मेरु-अमोरेहि,
सहिदस भो ! मुखोदिकरणांता ।
इस्तो हि यत्थेव-मुहोरहि च,
तिरिदस सखा ! मुखमाणदीसा ॥२९॥

हे सखा ! मुखोदिकरणांत में मुखमय मुखमय मुखमय होने वाले और मुख होने के योग्य हो कर, परमेश्वर रूपी मेरु पर्वत के द्वारा सम्पूर्ण दुःख करने वाली इच्छा को त्यागकर त्रिकुटपर्वत में ही।

दादू बंदगी

(उपदेश का अंग)

सकल शिरोमणि मनुष्य जिवारा,
सकल शिरोमणि पूरो विचारा ।
मनुष्य शरीरा सम जिव कोइ है,

वेला व मुहुत्तो वेव, दुविहा होंति वेयणा ।
साता-सोक्खव-सोक्खाइ, उदाहीणा व वेयणा ।४२।

वेदक कर्मका दो प्रकारसे भोगे हुए-उदय और मुख । साता, सुखरूप, दोनोंसे भोगे जानेवाले वेदनीय कर्मके उदय दो हैं ।

असायस्स व सायस्स, पोग्गला दाण-सारणं ।
मुहाण-मुहुवोगेसा, चारित्तस्स व-णिच्चयं ।४३।

असाता और साताके, पुद्गल कर्मका दान-सारण (देना-लेना) और मुखदुःखका भोगना चारित्रके कारण है । मुखदुःखका और स्वरूपका निश्चय है ।

असुहा सुहस्स-कम्मस्सो, णाणु दिवि-णाहणा ।
तिहाणाणस्स-गोदस्स-णामस्स-पुहोदया ।४४।

अशुभ कर्मों को अशुभ है, शुभके लिए ज्ञानको न देने वाले तिर्यञ्च, नरकगति आदि के पुद्गल और तीन स्थान वाले उच्चगोत्र के नामके हैं ।

पुहुत्ताण असायस्स णु, णिरय-णाहु-णामस्स वा ।
तिरियोगेसाणस्स, दोण्हि होंति णामस्स ।४५।

पुद्गल असाता कर्मके नरकायु, नरक नाम-कर्म और तिर्यञ्चायु कर्मके तिर्यञ्च नाम कर्मके हैं ।

पंचिंदियजादि तसदसगं, उदयस्स य णु जीवहु ।
उदयस्से अंग-उवंगाई, उदयं वा पोग्गलाणया ।४६।

पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रसदशक के उदय से जीव और अङ्गोपाङ्ग के उदय से पुद्गल, जिनसे शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास आदिका निर्माण होता है ।

शीतल-प्रभावना

(इन्द्रवज्रा)

यदङ्गसङ्गात्कनकं सुवर्णं,
यद्वद्गसोमस्तमसां निहन्ता ।
यद्वद्गतो गगनं द्विजानां,
स्याद्वद्गतीर्थाधिपतिः प्रभावी ॥१२॥

जो अपनी दृष्टि (ज्ञान) और अनेक प्रकार की लब्धियों से जीवों का हित करते हुए भव्य जीवों रूपी कमलों को विकसित करते हैं, जो संसार रूपी अंधकार का नाश करने वाले हैं और सूर्य की तरह देदीप्यमान हैं, वे शीतल तीर्थंकर भगवान सर्वोत्कृष्ट प्रभावी हैं।

(अनुष्टुप्)

श्रीं ह्रीं धृतिः स्थिरा कीर्तिः, शान्तिः सन्ति तवोदये ।
विराजन्ते गता दास, विविधा ऋद्धयस्तव ॥१३॥

जो भगवान के उदय में अत्यन्त दृढ़ है, वे आत्मा की शान्ति के (सूचक) श्री, ह्री, धृति, स्थिरा कीर्ति हैं।

विविध आकर्षक ऋद्धियों के कारण आपका यश चारों दिशाओं में फैल रहा है।

दशलक्षण-प्रभावना

उत्तमक्षमामृदुत्वार्जव, सत्यशौचसंयमतपांसि च ।
अकिञ्चनत्वब्रह्मेति, दशधा धर्मः प्रभावयतु ॥१४॥

उत्तम क्षमा, मृदुता और सरलता के दस प्रकार के धर्म आपके हृदय में प्रकाश करें और सभी को प्रकाशमान करें।

[illegible] ॥८॥

[illegible] है। जो कहु सोच करे।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

सम्यक् श्रुत तीर्थ का मूल है और गुण-समूह का प्रकाशक है। जो ऐसे सम्यक् श्रुत के ज्ञान और दान के द्वारा धर्म का प्रभाव बढ़ाता है, वह धन्य है।

धम्मं सयं पभावेज्जा, वक्खाण-पाढणेहि वा।
पयारगे पढाविता, पेसित्ता जत्थ-तत्थहि ।१०२।

व्याख्यान और धर्म-शास्त्र के अध्यापन से स्वयं धर्म की प्रभावना करे और प्रचारकों को सैद्धान्तिक ज्ञान पढ़वा कर और जहाँ-तहाँ (देश-विदेश में) भेज कर, दूसरों से प्रभावना करवाये।

गुण-आदर से प्रभावना

आयरणं गुणाणंति, जिणवरस्स सासणं।
मण-वय-कियाहिं ता, सम्माणं गुणिणो करे॥१०३॥

'गुणों का आदर करना अथवा गुणों का आचरण करना'—यह जिनेश्वर देव का शासन (उपदेश) है। इसलिये मन, वचन और क्रिया से गुणीजन का सम्मान करें।

(काव्य)

भवेइ कित्ती जिण-सासणस्स,
धम्मे सुही होइ गुणी विसण्णो।
संवोहिबीयं सुलहेइ अप्पा,
गुणीण सम्माण-समायरेणं ॥१०४॥

गुणियों का सम्मान करने से जिनशासन की कीर्ति होती

है (किसी कारण से या पुनर्जन्मवाद के अनुसार) विश्राम पाने हुए, दुखी, दर्द से ग्रसित होते हैं और आत्मा = मृत का शरीर करने वाला योग्य बोधि-वृक्ष की होता है।

अणाइ-कालमं मरई मूढेसु,
रई बहु मन्नि य दुग्गुणेसु।
मुसा मुदासा मुसहा य दासा,
गुणाभरं ता परमं विहूलं ॥१०५॥

अर्थात् काल के दृष्टि से अनादि और दुर्गुणों में बहुत ही रति है एवं मृत मुदासा है और मुर्ख मुसहा है; इसी कारण मूर्खों का आदर परम विहूल है अर्थात् परम क्लेश विहीन करने वाला है।

विद्या से ब्रह्मचर्या

(अनुवाद)

कथा सहा अनुकंपकारी, विद्या य दुविहा वुत्ता।
सोच्च धारू-जोगेसु, चयइ रमणं च ॥१०६॥

विद्या दो प्रकार की कही गई है—१ कथा विद्या और २ ब्रह्मचर्या विद्या। ब्रह्मचर्या विद्या प्राप्त करने से मनुष्य है—आत्म है, आत्मधर्म में आचार के लीन रहा है।

विद्यार्थी-विद्यार्थिनी ब्रह्मचर्य के अभ्यासार्थी को गुरुकुलवास में रहते समय विशेष रूप से आवश्यक सावधानी रखनी है और विद्यार्थी संस्थाओं के संचालन में गुरुकुल विद्यालय वास को आवश्यक बनाया है; आधुनिक शैक्षणिक पद्धति में भी ब्रह्मचर्याश्रम में रहने की बात की जाती है।

मणेण उ णिमित्तेण, णाण-संकप्पणेहि य ।
जा जस्स अत्थि ताए य, जए धम्म-पहावणं ।१०७।

मन से होने वाला चमत्कार अष्टांग निमित्त, ध्यान और संकल्प से होता है। इस प्रकार जिसके पास जो भी चमत्कारी विद्या है, उससे वह धर्म की प्रभावना में यत्न करे।

टिप्पण—ज्योतिष, सामुद्रिक आदि और आधुनिक अक्षरविद्या, अंकविद्या आदि निमित्त में, योग से प्राप्त विभूतियाँ, लब्धियाँ आदि ध्यान में और हिप्नाटिज्म, इन्द्रजाल आदि संकल्प में गर्भित हैं।

ललिया उवओगी य, कला वि विवहा पुणो ।
चित्त-लेहण-संगीय-सिप्पाइं पढमा कला ।।१०८।।

कलाविद्या के भी ललित और उपयोगी—अनेक भेद हैं। चित्रकला, लेखनकला, संगीतकला, शिल्पकला आदि कई प्रकार की ललितकला है।

टिप्पण—लिपि, काव्य, कथा, कहानी, उपन्यास आदि लेखनकला के अनेक भेद-प्रभेद हैं।

वत्थु-विज्जय-माई य, बीयं जाणिज्ज वा कलं ।
जा उचिया उ ताहिं च, कुज्जा धम्म-पहावणं ।१०९।

वास्तुकला, वैद्यक (चिकित्सा) आदि दूसरी उपयोगी कला के कई भेद हैं। जो कलाएँ धर्मक्षेत्र के योग्य हों, उन-उन कलाओं से धर्म की प्रभावना करे।

तपादि-प्रभावना

तवं वयं स-सत्तीए, दीहं करेइ सोहणं ।
धम्म-पभावगं गंथं, वियरइ पयासइ ।।११०।।

श्री कवीश्वर रचित है अनुपम वीर रस भरपूर है और शिक्षाप्रद नीति की दृष्टि से भी उत्तम है। इसमें भी पूर्व-प्रकाशन के कारण कुछ अंश छोड़ दिया गया है, शेष भाग को ही यहाँ पर प्रकाशित किया जा रहा है।

मदर्सा का सरदार आदि

सरदारों में सु सरदार, उदयसिंह का वंश।
मेवाड़वीरों में सदा श्रेष्ठ, सदा ही रहा है।।१।।

श्री सरदारसिंह के हैं, वह स्वामिभक्त था सरदार। सरदारी, दोनों हैं उन्हें प्राप्त, उनके हैं वीर सरदार।

सरदारों में सरदार हैं, सीसोदियों का है गर्व।
महाराणा प्रतापसिंह, उनको है पूरा सरदार।।२।।

सरदारों का कुलगीत

स्थायी

अजमाल सालूरा के, कुल में लेते जन्म हैं।
कालेल कहलाते वंश, करते संसार में नाम हैं।।१।।

इनके पितृगण के पास में, जो भूमि सम्पन्न है, उनका वंश को पूर्ण ही, भूमिदान करते हैं।
सम्मान के योग्य हैं, पितृगण इनके हैं अन्नदाता, इनके पितृगण के पास में, जो भूमि सम्पन्न है।

संघे सुअवलंबि दिट्ठे महाणा.
णाहीहि णवो भरिओ भवो व भाइ ६।।

इस गाथा में श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी ने संघ की महत्ता बताई है। संघ की शरण में जाने से भव का भय नष्ट हो जाता है।

(अनुष्टुप्)

अकृत्रिमस्वयं संघाय, नमोस्तु करुणाय।
गीर्वाण अक्षमाणीव, यस्मिन् सति वसुंधरा।।१।।

अकृत्रिम अनादिकाल संघ को नमस्कार हो जिसके होने से ही इस पृथ्वि पर क्षमाशील व्यक्ति रहते हैं।

क्षेत्रस्य निर्विघ्नता यत्रो, कल्याणमंगलता सदा।
विश्व-शांतिकरा यो हि, तस्मिन्नुत्कीर्तिता मुदा।।२।।

इस की शरण लेने वाले की क्षेत्र में निर्विघ्नता, कल्याणमंगलता, विश्व में शांति करने वाला संघ की कीर्ति होती है।

अध्यात्मयोगस्य अर्हत्

(अनुष्टुप्)

अध्यात्मयोग विज्ञ श्च विज्ञ श्च कथनस्य
मुक्तानामग्र गण्योऽर्हन् वन्दनीयः सदैव हि।

ओमाण-भायं न करे समाणं,
नत्तारमासायणयं निवारिणया ॥११९॥

१ संघ की निंदा नहीं करे, और यदि कोई निंदा करता हो तो उसका निवारण करे। २ संघ में फूट नहीं डलाए, यदि हो गई हो तो उसे दूर करे। ३ संघ का तिरस्कार नहीं करे और ४ परस्पर क्षमापना करे—यह संघ की चार प्रकार की अनाशातना भक्ति है। इन्हें अच्छी तरह से जानकर करना चाहिये।

वैनयिका भक्ति

संघस्स कुज्जा अहिवायणं वा,
धम्मस्स कज्जे मुहयं च दिज्जा।
सेवं करेज्जा गुण-कित्तणं च,
चउव्विहा वेणइया य भत्ती ॥१२०॥

१ चतुर्विध संघ का अभिवादन करे या उसे वंदना करे। २ धर्म के कार्य में संघ को प्रमुखता दे। ३ चतुर्विध संघ की सेवा करे और ४ संघ का गुण-कीर्तन करे। यह संघ की चतुर्विध वैनयिका भक्ति है।

विघ्नोपशामिका भक्ति

संघस्स विग्घाणि समोहरेज्जा,
रक्खेज्ज सत्तं सयलं च सारं।

सर्वेश कारुण्य सर्वेश पाहि,
भवीं मुझा विश्वकुलालिलालि ॥१२॥

१. सर्वेश कृष्ण, सर्व, सुख और कल्याण के स्वामी हैं। सर्वेश-सर्वों को दया दृष्टि करने वाले हैं। सर्व के दुख और संसार भय नष्ट करने वाले हैं। सर्वेश आदि की दया करो। तू ही इस संसार की सुख विश्वकुलालि-विश्व का पालक है।

सप्तम श्लोक

(स्वागतो-छन्द)

श्री कौंडु दिन्नो विश्व पोलगाडो,
वा सो सागाडो सर्वज्ञांश कृष्णं
सर्वज्ञ सर्वार्थेश सर्वज्ञ पाहि,
[illegible] ॥१३॥

[illegible] के कोई सर्वज्ञ कृष्ण आदि के कृपा की की इस कलाश होकर कृष्ण कृष्ण आदिकृपालु के करे, कृष्ण देव सर्वज्ञ सर्वज्ञ कृष्ण के कृपालु करे। सर्व सर्वज्ञ की सर्वज्ञ करे। कृपा करके कृष्ण सर्वज्ञ विश्वपाल हैं आप है।

श्री कौंडु दिन्नो वि कृष्णार्थको,
वा को ह कृष्णो कल्याण वि कृष्णं ।
सर्वेशाने कृष्णेश सर्वज्ञ कृष्णो,
[illegible] ॥१३॥

सर्वो कृष्ण सर्वज्ञ [illegible] कृष्ण कृष्ण है।

[illegible] भी [illegible] होता है। [illegible] को [illegible] महायक होना चाहिए। क्योंकि [illegible] में [illegible] सिद्धि होती है।

सासोदएणं दुहिया हि जीवा,
लोयंति धिज्जं वलवम्मिणो वि।
यंता गुणं ते विदुरा अभावा,
अभावयं किं न करेइ पायं ॥१२४॥

संसार में जीव पाप के उदय से निश्चय ही दुःखी है। दृढधर्मी भी दुःख में अपना धैर्य खो देते हैं। वे अभाव के कारण गुणों को छोड़ कर विह्वल हो जाते हैं। अभाव वाला व्यक्ति क्या-क्या पाप नहीं करता है ?

धण्णोऽसि पुण्णो जिणधम्मवं जो,
दुक्खी वि धण्णो गुणवं सधम्मे।
परिग्गहत्तं चइऊण वित्तं,
वच्छल्लएणं सहलं करेसु ॥१२५॥

हे लक्ष्मीवल्लभ ! जो तुम भौतिक पदार्थों से पूर्ण हो हुए भी जिनेश्वर देव के अनुयायी हो, तो तुम धन्य हो औ वह भी धन्य है, जो दुःखी होते हुए भी सद्धर्म में गुणों व.. धारक है। अतः तुम परिग्रह-भावना को छोड़ कर, साधर्मी के लिये वात्सल्य भरे कार्य के द्वारा अपने धन को सफल करो। अर्थात् धन्य व्यक्ति की धन्यता को टिकाने के लिये, जो हेय वस्तु छूट कर या खर्च होकर कुछ फलप्रद नहीं होने वाली है,

[illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] [

१ कर्मेन्द्रियों का दूसरा नाम 'कर्म विज्ञान' है। कर्मेन्द्रियों के कार्य का ज्ञान होता है।

२ ज्ञानेन्द्रियों का स्वरूप वर्णन करते हैं जिसे जैसे के कार्य होता है।

विषेषु हि न ये विद्वांसं, पुरुषाणाम् महाबलं।
आत्मरोधेन विज्ञानम्, पुरुष तम-विद्धाम्यहं॥ १८॥

यदि व्यक्ति विषयों में रह कर उसके भी पुरुष उनसे के लिये कर्मेन्द्रियों के कार्य, पुरुषार्थ ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होता है।

ज्ञानेन्द्रिय कर्म रोधेन, यो विषय-विमोहितः।
मनसा वेद मानेन, मिथ्याचारः स उच्यते॥ १९॥

कर्म को निरर्थक करो' रोकने के कारण ज्ञानेन्द्रिय कर्म कर, मन से विषयों में लिप्त रहने वाले को मिथ्याचार के द्वारा कहे जाते हैं।

[illegible] कर्म की कर्मेन्द्रियों को प्रेरित करते हैं। [illegible] के कार्यों को प्रेरित करते हैं। [illegible] के कार्य [illegible] के प्रेरक।

१ [illegible] कुछ [illegible], [illegible] के [illegible] के [illegible] के कार्य को [illegible]।

२ [illegible] के [illegible] के [illegible] के [illegible]।

३ [illegible] के [illegible] के [illegible] के [illegible] के [illegible] के [illegible]।

४ नासिका-द्वार पर दृष्टि—नाक के छिद्रों से श्वासोच्छ्वास बहता है। अतः वहाँ स्थिरीकरण करना। श्वास न लेना, न छोड़ना पर सहज भाव से चलने देना और उसके आने-जाते समय पर्यों का मानसिक चिंतन करते जाना।

५ अप्रमत्तता—इस प्रकार की प्रक्रिया से निद्रा आने की सम्भावना रहती है। अतः सावधान रहना। यदि आँखें बंद न कर के, नासिका के अग्रभाग पर या किसी पुद्गल पर उन्हें स्थिर किया जाय तो अप्रमत्तता अच्छी रह सकती है।

एकादश बोल

(श्रुत-स्मृति)

(अनुष्टुप्)

जिणिंद-वुत्तं गण-णाह-दिन्नं,
सुयं हि धम्मस्स पगासगं च।
उप्पायगं वुड्ढिकरं हिअस्स,
अहिज्जए जाव सरीर-भेए ॥१३४॥

जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गये, गणधरों के द्वारा दिये गये, धर्म के स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रकट करने वाले, हित के उत्पन्न करने वाले और वृद्धि करने वाले श्रुत का देह के छूटने तक अध्ययन करे। अर्थात् सूत्र को कण्ठस्थ करना चाहिये।

पयास-थंभो भव-सायरे जं,
जस्सिं पउत्ता तहिया हि भावा।
णिरुंभिउं अत्त-विहाव-चक्कं,
सुयं पढे तं थिर-माणसेणं।१३५।

બીજી બાજુ પ્રેમીજનો જ્યારે પોતાના પ્રેમીને મળવા ઉત્સુક બને છે ત્યારે તેમને પ્રેમીના મિલનમાં જે વિઘ્નો નડે છે, તેના પૂર્વરાગમાં તેમની ઉત્કટતામાં જે વિક્ષેપ પડે છે, તેનું પણ કવિએ ચિત્રણ કર્યું છે. પ્રેમીને મળવા જતી પ્રેમિકાને જે વિઘ્નો નડે છે તે જોઈને કવિ પોતે જ પ્રેમિકાને સંબોધીને કહે છે :

अवलम्बास्वादसुखो विनिद्रितो भव मयोगो,
योगिप्रकारे मुग्धाया हि सखे !
दोषेव सत्यपि चन्द्रिकाकुल पुनः,
किंकिंचिदयं कुलिशायते कठोरतया ॥ ६२ ॥

[હે ! કોઈના સંગના આલંબનનો આસ્વાદ જે તને મળ્યો છે તેને લીધે તારો પ્રેમ જાગ્રત થયો છે. પણ હે સખી ! યોગમાં મુગ્ધાનો પ્રેમ આવો હોય છે. રાત્રિ ચંદ્રિકાથી ઝળહળતી હોય છતાં તે કઠોરતાને લીધે વજ્ર જેવી બની જાય છે.]

કવિ કહે છે, પ્રેમિકાના અભિસાર વખતે રાત્રિ ચંદ્રિકાથી ઝળહળતી હોય છે.

કિંકિંચિદયં કુલિશાયતે કઠોરતયા

કવિ કહે છે કે પ્રેમિકાના અભિસાર વખતે રાત્રિ ચંદ્રિકાથી ઝળહળતી હોય છે. [illegible] કવિ કહે છે કે પ્રેમિકાના અભિસાર વખતે રાત્રિ ચંદ્રિકાથી ઝળહળતી હોય છે.

કવિ કહે છે કે પ્રેમિકાના અભિસાર વખતે રાત્રિ ચંદ્રિકાથી ઝળહળતી હોય છે. [illegible] કવિ કહે છે કે પ્રેમિકાના અભિસાર વખતે રાત્રિ ચંદ્રિકાથી ઝળહળતી હોય છે.

કવિ કહે છે કે પ્રેમિકાના અભિસાર વખતે રાત્રિ ચંદ્રિકાથી ઝળહળતી હોય છે. [illegible] કવિ કહે છે કે પ્રેમિકાના અભિસાર વખતે રાત્રિ ચંદ્રિકાથી ઝળહળતી હોય છે.

२ पुनरावृत्ति-सूत्र का यथार्थ उच्चारण करना, ३ परिवर्तना-सूत्र की आवृत्ति करना ४ अनुप्रेक्षा-अर्थ का चिन्तन करना और ५ धर्मकथा । उपर्युक्त गाथा में परिवर्तनास्वाध्याय का निर्देश है ।

अत्थं सुत्तस्स निहिज्जा, हिअयंमि पुणो पुणो ।
जेणं न कम्म गंठीओ, भिदिज्जा खलु अप्पणो ॥

सूत्र के अर्थ का हृदय में बार-बार चिन्तन करें । जिससे अपनी कर्म-ग्रन्थियाँ भिद जायें ।

टिप्पण—इस गाथा में स्वाध्याय के चौथे भेद अनुप्रेक्षा करने का कह कर, उसका फल बतलाया गया है । अनुप्रेक्षा से कर्म-निर्जरा अधिक होती है ।

पवयणस्स माया‌ए णाणं करे खु एत्तियं ।
अणाणुपुव्वि-णोक्कारं, गुणे वाट्ठुत्तरं सयं ।१३९।

अष्ट प्रवचनमाता (पाँच समिति-तीन गुप्ति) का ज्ञान जघन्य ज्ञान है । कम से कम इतना ज्ञान अवश्य करे । (यदि नित्य प्रति या कभी स्वाध्याय नहीं हो सके तो) अनानुपूर्वी से नमोक्कार मंत्र या एक सौ आठ बार नमोक्कार मंत्र अवश्य गिनें ।

(काव्य)

आवस्सएणं णिय-धम्म-कज्जं,
पच्चीस-बोलेण य धम्म-तत्तं ।
वीरत्थुईए खलु देव-तत्तं,
णमिप्पवज्जाइ गुणेज्ज मग्गं ॥१४०॥

'आवश्यक सूत्र' से अपने धर्मकर्त्तव्यों को, पच्चीस बोल

नारएसु नरयंमि, कम्मं खवेइ जितियं ।
नमुक्कार-सहियाउ, खवेइ तितियं खलु ॥१४४॥

जीव नरक में सौ-हजार भव कर जो कर्म में जितने कर्म का क्षय करता है, मनुष्य उतने कर्मों को 'नमुक्कारसहिय' प्रत्याख्यान से क्षय कर देता है। अर्थात् ज्ञानी ज्ञानबल से स्वेच्छा से अल्प पुरुषार्थ कर के, बहुत-से कर्मों का नाश कर सकता है।

त्रयोदश बोल

(दिवस चरिम-प्रत्याख्यान)

(काव्य)

सूरत्थ-कालाउ मुहुत्त-पुव्वे,
आहार-चायं तु करेसु भव्व ।
ण रत्ति भुत्ती किर सावगस्स,
कयावि जुत्ता बहु-दोसवंती ॥१४५॥

हे भव्य ! सूर्यास्त से एक मुहूर्त के पहले से आहार का त्याग करो। रात्रि-भोजन बहुत दोषों से भरा है। इसलिये श्रावक को रात्रि-भोजन कभी नहीं करना चाहिये।

(आर्या)

दिवसंतिमे मुहुत्ते, जं आहारस्स वज्जणं तं तु ।
दिवस-चरिमं जिणेहिं, पच्चक्खाणं हि पण्णत्तं ।१४६।

दिवस के अन्तिम मुहूर्त में जो आहार का त्याग किया जाता है, उसे जिनेश्वर देव ने 'दिवसचरिम' नाम का प्रत्याख्यान कहा है।

है। और (दूध, पानी, मुखवास के सिवाय या मावे की मिठाई, दूध आदि के सिवाय रात्रि-भोजन के त्याग आदि) भी कई भेद प्रचलित हैं। श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्याख्यान करता है।

रत्ति-भोयण-चाएण, सुट्ठु होइ बहुं फलं।
अणायासेण मासंमि, पक्खोववासयं फलं ॥१५०॥

रात्रिभोजन का त्याग करने से बहुत श्रेष्ठ फल मिलता है। बिना किसी श्रम के सहज में ही एक महिने में एक पक्ष के उपवास का फल प्राप्त होता है।

टिप्पण–रात्रि-भोजन से आध्यात्मिक हानि तो है ही। परन्तु शारीरिक दृष्टि से भी हानि होती है।

चतुर्दश बोल

(आवश्यक)

आवस्सएसु कालो उ, जस्स वि जो हु तम्मि य।
भत्तिजुत्तो करेज्जा तं, सहरिसो सुसावगो।१५१।

उत्तम श्रद्धालु श्रावक आवश्यकक्रियाओं में, जिस भी क्रिया का जो काल हो, उस काल में उस क्रिया को हर्ष और भक्ति से भरपूर होकर करता है।

टिप्पण–आवश्यक क्रियाएँ छह है–१ सामायिक २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वंदना, ४ प्रतिक्रमण ५ कायोत्सर्ग और ६ प्रत्याख्यान। इनमें से दूसरे, तीसरे, और पाँचवें आवश्यक का विधान तीसरे, चौथे और बत्तीसवें बोल में हो चुका है और छठे आवश्यक का १२ वें १३ वें और १५ वें बोल में कुछ विधान है। शेष दो आवश्यक सामायिक और प्रतिक्रमण का इस बोल में विधान किया गया है।

जो [illegible] निष्कण्टक श्रेष्ठ या सिद्ध बनाने वाला है।

प्रतिक्रमण

नासगं जं पमायस्स, मोक्ख-मग्गस्स सारयं।
करणिज्जं दुसंझाए, आवस्सयं चउत्थयं ।१५५।

जो प्रमाद को नष्ट करने वाला है और जो मोक्षमार्ग को निष्कंटक श्रेष्ठ या सिद्ध बनाने वाला है, वह चौथा प्रतिक्रमण प्रातःकाल और सायंकाल दोनों सन्ध्याओं में करना चाहिये।

(काव्य)

गुणाण रूवं सरिऊण जीवो,
आलोयणं जोगगईइ किच्चा।
जा वक्कया वारइ तं गुणंमि,
दोसं कयं तं अफलं सरित्ता ।।१५६।।

जीव गुणों के स्वरूप का स्मरण करके, अपनी मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया की गति का निरीक्षण करता है। वह गुणों से दूर जाने रूप जो योग की वक्रता है, या गुणों में जो दोष लगाया है, 'वे निष्फल हों'—उन्हें इस रूप में स्मरण करके, योगवक्रता को गुणों में मोड़ देता है (यह प्रतिक्रमण है)।

(अनुष्टुप्)

पुणोऽकरणवित्तीए, धरणं तु दढं मणे।
तं पडिक्कमणं होइ, साहणाए विसोहणं ।१५७।

(अपने दुष्कृत्यों की निष्फलता की भावना से) वर्षों के छिद्र (अतिचार) बंद हो जाते हैं और व्रतों की शुद्धि होती है।

पंचदश बोल

(दीक्षा हेतु नियम)

दीक्षा प्रयोगशाला है

(कारण)

दिक्खा हु अज्झत्त-पयोग-साला,
जाए गुणी साहुग-अप्पमत्तो।
जीवस्स देहस्स य जो सिलेसो,
अच्चंतियं भंजइ तं मुही सो ॥१६

दीक्षा अर्थात् साधुत्व को ग्रहण करना—अ प्रयोगशाला है। जिसमें मूलोत्तर गुण को धारण क प्रमाद से रहित सावधान वह साधक सुखानुभव क जो जीव और देह का एकत्व रूप अनादिकालीन ब बंधन चल रहा है, उसे आत्यन्तिक रूप से = सद तोड़ता है, वह उस श्लेष को तोड़ कर शाश्वत् सुख करता है।

लक्ष्य-हेतु त्याग की प्रतिज्ञा

काया अहं संजम-जोगयं तं,
सुद्धं गहिस्सामि सिवो भविस्सं।
ण जाव दिक्खं लहिहामि ताव,
जं किंचि वत्थुं हि

पमत्थी

(प्रशस्ती)

सासणे पहुवीरस्स, धम्मदासो मुणीसरो ।
आयरिओ सिरीमंतो, होंसु धम्म-धुरंधरो ॥१६६॥

अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर प्रभु के शासन में मुनियों में प्रधान श्री धर्मदासजी महाराज हो गये हैं। वे ज्ञानादि रत्नत्रयरूप लक्ष्मी से सम्पन्न आचार्य-प्रवर थे। और वे धर्म की धुरा को धारण करने वाले थे।

तस्सीस-हरिदासस्स, अण्णये वि मुणीवरा ।
तवस्सी पढिया केइ, वत्तारा मुणि-पुंगवा ॥१६७॥

उनके कई विशिष्ट शिष्यों में एक श्री हरिदासजी नाम के मुनि भी थे। उनकी शिष्य-परम्परा में भी श्रेष्ठ मुनिराज हुए हैं। मुनियों में प्रधान कई तपस्वी थे, कई विद्वान थे और कई उत्तम वक्ता मुनिराज थे।

तेसिं पुज्जवरो सेट्ठो, णंदलाल-महामुणी ।
चाई लज्जू णिरावेक्खो, परीसह-चमू-जई ॥१६८॥

उनमें एक पूज्यवर श्री नन्दलालजी महाराज थे। वे श्रेष्ठ व्रती और महामुनि थे। उनकी त्यागवृत्ति महान् थी। वे संयमी के योग्य विशिष्ट लज्जा के स्वामी थे। उन्हें संसार से यश-कीर्ति आदि किसी की इच्छा नहीं थी—वे परम निरीह थे और इस निरीह भाव से उन्होंने परीषह रूपी सेना को जीत लिया था।

जीव के लिये) निश्चय ही मोक्ष-मार्ग का विभाग है।

प्रतिक्रमण

नासगं जं पमायस्स, मोक्ख-मग्गस्स सारयं।
करणिज्जं दुसंज्झाए, आवस्सयं चउत्थयं।१५५।

जो प्रमाद को नष्ट करने वाला है और जो मोक्षमार्ग को निष्कंटक श्रेष्ठ या सिद्ध बनाने वाला है, वह चौथा प्रतिक्रमण प्रातःकाल और सायंकाल दोनों सन्ध्याओं में करना चाहिये।

(काव्य)

गुणाण रूवं सरिऊण जीवो,
आलोयणं जोगगईइ किच्चा।
जा वक्कया वारइ तं गुणंमि,
दोसं कयं तं अफलं सरित्ता ॥१५६॥

जीव गुणों के स्वरूप का स्मरण करके, अपनी मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया की गति का निरीक्षण करता है। वह गुणों से दूर जाने रूप जो योग की वक्रता है, या गुणों में जो दोष लगाया है, 'वे निष्फल हो'—उन्हें इस रूप में स्मरण करके, योगवक्रता को गुणों में मोड़ देता है (यह प्रतिक्रमण है)।

(अनुष्टुप्)

पुणोऽकरणवित्तीए, धरणं तु दढं मणे।
तं पडिक्कमणं होइ, साहणाए विसोहणं।१५७।

पुनः दोष नहीं करने की वृत्ति से साधना की विशोधि को

[illegible] के पुत्र रूप में [illegible] करना—यही कन्यादान [illegible] है।

तस्मा उदक-संज्ञाद्, दानक्रियाकर्मणे करे।
गृहीत-निवर्तनेनुं तं, किंचिदि दूरण गछे ।।५८।

दानक्रियै (दान की विधि के लिये), दीयां पछेज्यो को पूर्वोक्त विधियों से जो कुश की पवित्र लेकर हो उसका परित्याग करे।

(दानी)

आगमनाद् निमित्त च, पूर्वाभिलाषं पुनर्विधा तस्य।
पवित्रकाद् दोषिक वि, परिहरणम्—कारणीकरणं ।।५९।

परिहरण करने वाले तथा किये जाने वाले कर्म के पूर्व के अभिलाषा और आगमन की अपेक्षा पवित्र कर है और त्रिविध की कारणता को परिहरण के लिये करना चाहिये।

नाविकुलजो च नरको, भिक्षका दानादि किंचि हि कुर्वाणा।
आदाता च नेनु वि, यदू पुरुष-कारण सदा हुंति ।।६०।

दाता कुल के उत्पन्न हुआ हो, दानादि उत्तम क्रियाओं को करने वाला हो और भी कुछ विशेष कारण होवे तो उसको भी कुश त्रिविध प्रकार करके ग्रहण करना चाहिये।

(पुरुषकार)

"विशेषतः वि पुरुषकारं" [illegible], परिहरणम् कारणम्।
अन्यं सकलम् विधानं, विधिवि हीन कुर्वाणा ।।६१।

जो पुरुषकार विशेषता से आवश्यक पुरुष पुरुषकार रूप कर्म है, जो कर्म के [illegible] परिहरण की कारणता है। विधान

(अपने सुकृतों की निष्फलता की भावना से) व्रतों के छिद्र (अतिचार) बंद हो जाते हैं और व्रतों की शुद्धि होती है।

पंचदश बोल

(दीक्षा हेतु नियम)

दीक्षा प्रयोगशाला है

(काव्य)

दिक्खा हु अज्झत्त-पयोग-साला,
जाए गुणी साहग-अप्पमत्तो।
जीवस्स देहस्स य जो सिलेसो,
अच्चंतियं भंजइ तं सुही सो ॥१६२॥

दीक्षा अर्थात् साधुत्व को ग्रहण करना—अध्यात्म की प्रयोगशाला है। जिसमें मूलोत्तर गुण को धारण करने वाला प्रमाद से रहित सावधान वह साधक सुखानुभव करता हुआ, जो जीव और देह का एकत्व रूप अनादिकालीन वज्रलेप सा बंधन चल रहा है, उसे आत्यन्तिक रूप से = सदा के लिये तोड़ता है, वह उस श्लेष को तोड़ कर शाश्वत् सुख को प्राप्त करता है।

लक्ष्य-हेतु त्याग की प्रतिज्ञा

काया अहं संजम-जोगयं तं,
सुद्धं गहिस्सामि सिवो भविस्सं।
ण जाव दिक्खं लहिहामि ताव,
जं किंचि वत्थं वि [illegible] भंते ! ॥१६३॥

[illegible] [illegible] [illegible] [

पसत्थी

(प्रशस्ती)

सासणे पहुवीरस्स, धम्मदासो मुणीसरो ।
आयरिओ सिरीमंतो, होंसु धम्म-धुरंधरो ॥१६६॥

अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर प्रभु के शासन में मुनियों में प्रधान श्री धर्मदासजी महाराज हो गये हैं। वे ज्ञानादि रत्नत्रयरूप लक्ष्मी से सम्पन्न आचार्य-प्रवर थे। और वे धर्म की धुरा को धारण करने वाले थे।

तस्सीस-हरिदासस्स, अण्णये वि मुणीवरा ।
तवस्सी पडिया केइ, वत्तारा मुणि-पुंगवा ॥१६७॥

उनके कई विशिष्ट शिष्यों में एक श्री हरिदासजी नाम के मुनि भी थे। उनकी शिष्य-परम्परा में भी श्रेष्ठ मुनिराज हुए हैं। मुनियों में प्रधान कई तपस्वी थे, कई विद्वान थे और कई उत्तम वक्ता मुनिराज थे।

तेसिं पुज्जवरो सेट्ठो, णंदलाल-महामुणी ।
चाई लज्जू णिरावेक्खो, परीसह-चमू-जई ॥१६८॥

उनमें एक पूज्यवर श्री नन्दलालजी महाराज थे। वे श्रेष्ठ व्रती और महामुनि थे। उनकी त्यागवृत्ति महान् थी। वे संयमी के योग्य विशिष्ट लज्जा के स्वामी थे। उन्हें संसार से यश-कीर्ति आदि किसी की इच्छा नहीं थी—वे परम निरीह थे और इस निरीह भाव से उन्होंने परीषह रूपी सेना को जीत लिया था।

अवसाणाविसाए, पयडीओ य मुंचिओ।
जं तिसमयवासिओ, सायस्सा-सिओ मुणी ॥६९॥

इस मुनि की अवस्थाओं का स्वरूप के अवस्थाओं के दो के लक्षण की मुनीश्वरों का स्वरूप है। अब कौन है अर्थात् कहते हैं कि कौन मुनि की अवस्था की है। अब जिसने मुक्ति व अब मुक्तिवास है। अब अवधि अर्थात् जिसकी दो अवस्था के होती है, स्वरूप से इस मुनि में अब यही कहा जाता है।

मुनि-मूर्छा-विनाशा, पंच-मूर्छासु मुक्तिगो।
मुनः-शीघ्र-कालो, अतः मुक्तेन-त्यागी ॥६९॥

अवसाद-स्वभावेन, मुनः-शीघ्र-कालतः।
अवसाद-विनाशेन, त्रिसमयो-स्तिके मुनिः ॥७॥

मुनः-कालस्य-कोटिः त्रिसमयस्य-मुनेः।
मुनिः त्रिसमय-तिष्ठति, यदि सः मुनिः ॥७१॥

क्षमाश्रमणाधिराज, चंद्रऋषी य सूरिओ।
वर्द्ध तिमिरहारिणो, पंचमा-पिओ मुणी ॥१६॥

इस गुरु की स्तवनाकी महाराज के चरण-कमलों के भौंरे के समान श्री सूर्यचन्द्रजी महाराज हैं। आप कवि हैं अर्थात् आपने बड़ी २ कई ढालों की रचना की है। आप निर्मल चारित्र के धारक मुनिराज हैं। आप आपकी आज्ञा शिरसी श्री दानजी के चेले हैं। एवम्भूत से इस गुण से आप चौथे पद विराजे हुए हैं।

सृष्टि-मुनिन-वेदाख्य, वर्षे-शीतेषु पक्षिमो।
गुरु-दक्षिण-भागस्थो, वर्षं कुर्वेत-कामभो ॥१७॥

वदनाकार-नामानि, वद-क्षीण-क-वाचु।
वदन्त्य-क्षिनिर्देश्य, किंगुरुणी-दिवं मुदे ॥१८॥

मुख-आकार-नामानि दिवा-दलस्य-मध्यगो।
मुनि-वेदरस-वेदाब्दे, वर्षं वर्षं तु चोदह ॥१९॥

पूर्वोक्त श्री सूर्यचन्द्र जैसे के कारण जिनको के मुख "वदन" इस नाम से कहा जाता है। सूर्यजी इस कारण से आपको सूर्यजैसे के आकार जिनको कहा है। यहाँ जिनका नाम ८८६१ है उनका नाम को मुखाकारी (जिनको) के जिन सूर्यजी के आकार के मुख की आकृति सूर्य की आकृति, सूर्यजी के आकार के मुख की आकृति के समान है। इस कारण से